



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2016; 2(4): 63-66

© 2016 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 12-05-2016

Accepted: 13-06-2016

डॉ० ब्रजेश कुमार पाण्डेय

एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
राजकीय महिला स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, हल्द्वानी, (नैनीताल),
उत्तराखण्ड।

पुरुषार्थ : प्रासङ्गिक जीवनमूल्य

डॉ० ब्रजेश कुमार पाण्डेय

भारतीय मनीषियों की जीवन-विषयिणी धारणा पुरुषार्थ कहलाती है जो मानव के समस्त जीवन के क्रियाकलापों का विवेचन, नियमन एवं नैतिक उन्मीलन करती है। जीवन-चर्या अपने स्वरूप में 'क्या है और कैसी होनी चाहिए' इन दोनों ही प्रश्नों का सम्यक् उत्तर पुरुषार्थ की अवधारणा में सन्निहित है। जीवन-मूल्य समाज का जीवन विषयक तत्त्वज्ञान होता है और यही तत्त्वज्ञान समाज जीवन को सार्थकता प्रदान करता है। इन्हीं के निकष पर श्रेय और हेय का निर्धारण होता है। यही निकष 'पुरुषार्थ' है। ये पुरुषार्थ इसलिये कहे जाते हैं क्योंकि ये पुरुष के स्वयं के प्रयत्नों से प्राप्त होते हैं और मानवीय प्रयास के ध्येय एवं लक्ष्य के द्योतक हैं। इनके सामंजस्यपूर्ण एवं उचित सम्पादन से मनुष्य जीवन का सोद्देश्य नियमन कर सकता है तथा बौद्धिक, नैतिक, शारीरिक, भौतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है।

मानवीय सुख के दो मुख्य आधार रहे हैं – भौतिक एवं आध्यात्मिक। सांसारिक आकर्षण एवं ऐश्वर्य भौतिक सुख के अन्तर्गत हैं जबकि त्याग एवं तपश्चर्यापूर्ण नैष्टिक जीवन आध्यात्मिक सुख के अन्तर्गत। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं तुष्टि के लिए मनुष्य हमेशा प्रयत्नशील रहता है क्योंकि ये उसकी स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं किन्तु वह प्रयत्न जब बिना किसी नियमन एवं नैतिकता के निर्बाध हो जाता है तो सामाजिक मूल्य बिखरने का खतरा पैदा हो जाता है। अतः भोग के साधनों एवं असीम कामनाओं को संयमित एवं आदर्शपूर्ण स्वरूप देना आवश्यक हो जाता है। इसलिए हिन्दू दार्शनिकों ने भोगपरक वृत्तियों को अस्थायी बताते हुए मनुष्य को सात्त्विक एवं सदाचारपूर्ण जीवन जीने का मार्ग बताया। पुरुषार्थ की कल्पना सांसारिकता एवं आध्यात्मिकता में, भोग एवं योग में, कामना एवं साधना में समन्वय का अपूर्व प्रयास है। ऋषियों ने यह समझा था कि विषयों की ओर प्रवृत्ति स्वाभाविक है क्योंकि यह मानव की हर नैसर्गिक क्रिया के साथ जुड़ी हुई है किन्तु यदि इनसे किन्हीं अंशों में निवृत्ति हो सके तो मनुष्य वस्तुतः सुखी हो सकता है।

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष – ये मनुष्य के चार पुरुषार्थ हैं। जीवन, जगत् एवं ईश्वर से सम्बन्धित सभी गतिविधियाँ इन्हीं चारों के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। इनमें से धर्म, अर्थ एवं काम मनुष्य के ऐहिक जीवन के आचार से सम्बद्ध हैं, इसलिए इन्हें त्रिवर्ग कहा गया है। मोक्ष पारलौकिक धारणा है और मनुष्य के लिए अभीष्टतम होने के कारण 'परम पुरुषार्थ' की कोटि में आता है। (इनमें कर्मफल की आवश्यकता नहीं होती है।) निःश्रेयस् के साथ-साथ लोकव्यवहार अर्थात् लौकिक जीवनचर्या को सार्थक एवं सफल बनाना ही 'त्रिवर्ग' का उद्देश्य है।

धर्म : 'धृ' धातु से निष्पन्न धर्म का अर्थ धारण करना है। महाभारत में कहा गया है कि यह सभी जीवों को धारण करता है इसलिए धर्म कहलाता है।¹ जो वस्तु को अपने स्वरूप में स्थिर रखता है, उसे स्वरूप से च्युत नहीं होने देता, वही धर्म है। इसलिए तैत्तिरीय आरण्यक में धर्म को सम्पूर्ण विश्व का आश्रय बताया गया है।² वैदिक 'ऋत' की अवधारणा सांसारिक नैतिक विधि से सम्बन्धित थी, अर्थात् तदयुगीन मान्यता के अनुसार ऋत के आधार पर ही सृष्टि परिचालित होती है। कालान्तर में ऋत का अर्थ, धर्म में समाहित हो गया। धर्म का अभिप्राय जीवन की ऐसी आचरण संहिता से है जो नैतिक एवं सात्त्विकता से ओतप्रोत हो। वे सभी गुण, परिस्थितियाँ एवं कार्य जो मनुष्य को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं— सभी धर्म हैं। सत्-असत् के भेद, भोगपरक उद्दाम काम और सुसंस्कृत काम का पार्थक्य तथा अविवेकपूर्ण असत् अर्थसंग्रह और समाजहित के सापेक्ष अर्थोपार्जन का भेद धर्म के आधार पर ही विनियमित होता है। इसलिए मनु ने कहा है कि जब धर्म का हनन होता है तो वह हननकर्ता का संहार कर देता है। जब इसकी रक्षा होती है तो यह मनुष्य की रक्षा करता है। अतः धर्म का हनन कभी नहीं होना चाहिए।³ धर्म वह नियम है जो लोक एवं परलोक में सामंजस्य स्थापित करता है, चातुर्वर्ण्य एवं चतुराश्रमों का नियम-निर्धारण करता है, जो मानव को लौकिक बन्धनों से मुक्त कर मोक्ष का अधिकारी बनाता है

Correspondence

डॉ० ब्रजेश कुमार पाण्डेय

एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
राजकीय महिला स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, हल्द्वानी, (नैनीताल),
उत्तराखण्ड।

तथा जो काम को मर्यादित एवं नियंत्रित कर उसे अर्थ और मोक्ष अनुकूल बनाता है। वैशेषिक सूत्र में महर्षि कणाद ने अभ्युदय (लौकिक उन्नति) एवं निःश्रेयस् (मोक्षोन्मुख पारलौकिक उत्कर्ष) के साधनभूत को धर्म कहा है – 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'।¹⁴ अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ एवं काम सम्बन्धी ऐहिक सुख एवं मोक्ष सम्बन्धी पारलौकिक सुख की सिद्धि होती है, वही धर्म है। जीवन-निर्वाह एवं मनस्तुष्टि के लिए अर्थ एवं काम आवश्यक हैं किन्तु धर्मज्ञान दोनों के प्रति मनुष्य की आसक्ति को नियंत्रित करता है – 'अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।' धर्म से ही अर्थ, अर्थ से काम तथा काम से धर्म के फल (सुख) का उदय होता है – 'धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामाद्धर्मफलोदयः (पदमपुराण)।' त्रिवर्ण में धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। काम से अर्थ और अर्थ से धर्म श्रेष्ठ होता है।¹⁵ त्रिवर्ण में विरोध उपस्थित होने पर धर्म ही वरेण्य है।¹⁶

भारत में धर्म की धारणा रूढ़ि के रूप में कभी नहीं रही। धर्म के सूत्रों को युगानुकूल परिवर्तनीय भी बताया गया है। मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णुधर्मसूत्र, विष्णुपुराण आदि में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि जब धर्म लोगों के लिए अरुचिकर हो जाय तथा वह कष्ट उत्पन्न करने लगे तो उसका पालन नहीं होना चाहिए। महाभारत के अनुसार धर्म एवं अधर्म दोनों काल एवं देश की सीमाओं से आबद्ध हैं, जो कभी अधर्म था वह कभी धर्म भी हो सकता है।¹⁷ किन्तु जो मनुष्य मात्र के सामान्य धर्म हैं, उनके विषय में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। वे तो सार्वभौम एवं कालातीत हैं और मनुष्य मात्र के लिए आचरणीय हैं। धर्म के इन्हीं सार्वजनीन दस लक्षणों की मनु ने चर्चा की है –

धृतिक्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

ऋषियों के मत में धर्म का सबसे बड़ा लक्षण यह प्रतीत होता है कि जो कुछ हमें प्रीतिकर न लगता हो, उसका आचरण दूसरों के लिए न करें – 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'। जीवन जीने योग्य तभी बनता है जब समस्त कर्म धर्मानुकूल होते रहें। (प्रवृत्तिलक्षण एवं निवृत्तिलक्षण नाम से धर्म के दो भेद किये गए हैं। प्रथम में निरन्तर आकांक्षा सहित क्रियाशीलता पाई जाती है, जबकि दूसरे में लौकिक कामनाओं की उपेक्षा की जाती है। दूसरे का अनुसरण मोक्ष के लिए किया जाता है।)

अर्थ : अर्थ का अभिप्राय उन सभी उपकरणों एवं भौतिक साधनों से है जो व्यक्ति को समस्त सांसारिक सुख उपलब्ध कराते हैं तथा तत्सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं और साधनों की पूर्ति करते हैं। अर्थ के बिना जीवनयापन असंभव है।¹⁸ अर्थ के बिना भौतिक जीवन में व्यक्ति ग्रीष्म की सूखी सरिता के समान हो जाता है।¹⁹ मनुष्य के जीवन की अर्थ सम्बन्धी मनःतृष्णा एवं भौतिक आनन्द के प्रति उन्मुख होने वाली प्रवृत्ति ही व्यक्ति को अर्थोपार्जन की ओर प्रेरित करती है। इसलिए वृहस्पतिसूत्र में धन को अत्यधिक महत्ता दी गई है।¹⁰ कौटिल्य ने अर्थ को पुरुषार्थों में प्रमुख तथा धर्म एवं काम का मूल बताया है।¹¹

जिस प्रकार बुद्धि के लिए धर्म, मन के लिए काम और आत्मा के लिए मोक्ष की आवश्यकता है, उसी प्रकार शरीर के लिए अर्थ की अपेक्षा है। इसलिए अर्थ के अर्जन, संचय एवं विवर्धन के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए। धर्म के एक लक्षण 'अभ्युदय' का कारण अर्थ भी है। किन्तु जैसे अर्थ का अत्यधिक अभाव जीवन को कष्टमय बना देता है, उसी प्रकार अर्थ का अत्यधिक प्रभाव भी अकल्याण का जनक है। इसलिए भारतीय अर्थचिन्तन में अर्थोपार्जन के साधनों की शुचिता तथा अर्थप्राप्ति के लक्ष्य पर सम्यक् विचार किया गया है। अर्थ-संग्रह के साधन धर्मसम्मत होने चाहिए। कौटिल्य ने अर्थ को धर्म के विरुद्ध नहीं जाने की सलाह दी है। अनुशासन पर्व में त्रिवर्ण को मानवजीवन के तीन

पुरस्कार बताते हुए अर्थ एवं काम को धर्म के अधीन रहने पर बल दिया गया है।¹² मनु के अर्थोपार्जन का आदर्श बताते हुए कहा है – 'व्यक्ति को बिना किसी अन्य को हानि पहुँचाए अर्थ का संग्रह करना चाहिए। किसी को अत्यधिक विषयासक्त होकर तथा शास्त्र द्वारा गृहित कहे हुए कर्मों द्वारा धन-संग्रह नहीं करना चाहिए। पर्याप्त धन होने की स्थिति में भी अर्थोपार्जन त्याज्य है। पापी लोगों से धन संग्रह कदापि न करें।¹³ धनसंग्रह का लक्ष्य भारतीय दृष्टि से 'त्यागपूर्वक भोग' का है – 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'।¹⁴ अर्जित धन के दान का आदर्श पदे-पदे प्राप्त होता है। सम्पत्ति का वितरण अभावग्रस्त लोगों में भी हो सके यही धनागम का सुफल है और उसमें समाजहित का लक्ष्य सामने उपस्थित दृष्टिगोचर होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में तो केवल स्वयं के लिए अन्न पकाने वाले (दूसरे शब्दों में स्वार्थ के लिए धनार्जन करने वाले) को पापभक्षी बताया गया है।¹⁵

भुंजते ते त्वघ्न पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।
दानपूर्वक अर्थार्जन को यज्ञ की संज्ञा दी गयी –
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।। गीता
3/13

चूँकि धन समाज से प्राप्त होता है, इसलिए उसका विनियोग भी समाजहित में होना चाहिए। मेघ जिस भाँति लिया हुआ जल वितरित कर देते हैं, उसी भाँति संग्रह भी दान के लिए है।

'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।'
'इष्टापूर्त' आदि की कल्पना भी मनीषियों ने संगृहित धन का समाजोपयोगी कार्यों में विनिभोग के लिए ही की। दान एवं वितरण का लक्ष्य सम्पत्ति के निर्बाध अधिकार को मान्यता नहीं देता।

सम्पत्ति का निर्बाध संचयन निरंकुश बना देता है। इसलिए उस पर धर्म (नैतिक मूल्यों) का बन्धन आवश्यक है। उपभोग के पश्चात् भी शेष सामग्री को गाँठ बाँधकर ले जाने की मानवीय प्रकृति में त्यागपूर्वक उपभोग का संस्कार डालना आवश्यक है।

काम : काम समस्त सृष्टि का मूल है। इसलिए भारतीय चिन्तकों ने इसे पुरुषार्थ की संज्ञा दी। विश्व साहित्य में सर्वप्रथम यहीं काम पर सांगोपांग विवेचन हुआ तथा महर्षि वात्स्यायन ने कामसूत्र की रचना की। मनुष्य की समस्त कामनायें, वासनाजन्य प्रवृत्तियाँ और आसक्तिमूलक वृत्तियाँ काम के अन्तर्गत आती हैं। आचार्य वात्स्यायन के अनुसार आत्मा से संयुक्त, मन से अधिष्ठित श्रोत्रादि पंच ज्ञानेन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में जो अनुकूल प्रवृत्ति है, वही काम है।¹⁶ कामना और वासना की प्रवृत्तियाँ मनुष्य में स्वाभाविक एवं सहजात हैं (जिनमें एक ओर तो स्नेह, प्रेम, वात्सल्य, अनुराग, सौन्दर्यानुभूति और आकर्षणजन्य सर्जनात्मकता है, तो दूसरी ओर इन्द्रियसुख और यौन सम्बन्धी इच्छाओं की तृप्ति है)। काम के मुख्यतः तीन आधार हैं— जैविक, सामाजिक और धार्मिक। व्यक्ति अपनी ऐन्द्रिक इच्छाओं की संतुष्टि जैविक आधार पर करता है। इन प्रवृत्तियों के अतृप्त रहने पर मनुष्य कुण्ठाग्रस्त होकर तनाव क्रोध एवं नैराश्य का शिकार हो जाता है। विवाह के माध्यम से पति-पत्नी के सम्बन्ध तथा प्रजनन (सन्तति उत्पादन) के माध्यम से पारिवारिक और सामाजिक निरन्तरता काम के सामाजिक आधार हैं। प्रेम की कोमल अनुभूतियाँ मनुष्य की कल्पना-प्रवणता को उद्बुद्ध करती हैं, जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। काम का धार्मिक आधार व्यक्ति को उसकी निर्बाध इन्द्रिय संतुष्टि और अदम्य कामेच्छाओं से विरत करता है, जिससे वह आत्मिक उत्थान की ओर अग्रसर होता है। काम को इसी आधार पर आदिदेव कहा गया है।

“कामस्तदग्रे समवर्तत”

रागात्मिका वृत्ति में अधिष्ठित काम सृष्टि का मूल कारण है। यह मनस् का, चित्त का तथा जगत् का रेतस् है। प्रवृत्ति प्रधान होने पर काम अज्ञान, अविद्या तथा आकर्षण का मूल होने के कारण सृष्टि का बीज है, किन्तु निवृत्ति प्रधान होने पर यह ज्ञान, विद्या एवं विवेक का हेतु भी है। शैव दर्शन में शिव शक्ति संयोग ही सृष्टि का मूल है –

“शिवशक्तिसमायोगाज्जायते सृष्टिकल्पना।”

यद्यपि भारतीय जीवन-दृष्टि में काम वर्ज्य नहीं है, किन्तु काम-स्वच्छन्दता कदापि स्वीकार्य नहीं क्योंकि वह पशुता के तुल्य हो जाती है। काम स्वाभाविक प्रेरणा शक्ति तो है किन्तु उसे धर्म के विरुद्ध नहीं जाना चाहिए। धर्म से अविरोद्ध काम को भगवान् कृष्ण ने अपना रूप बताया है।¹⁷ इसलिए काम का सेवक उद्धत होकर नहीं करना चाहिए।

“सेवेत्काममनुद्धताः”

अर्थ से निष्पन्न एवं धर्म से साधित काम-सुख ही ऐहिक मानव जीवन का लक्ष्यभूत परमसुख है। वात्स्यायन ने त्रिवर्ग के परस्पर अविरोधपूर्वक सेवन का निर्देशन दिया है।¹⁸ कौटिल्य ने धर्म एवं अर्थ की परिधि में काम का पालन करने की बात कही है।¹⁹ गीता में अनियंत्रित विषय सेवन एवं कामोपभोग से क्रमशः क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश एवं बुद्धिनाशपूर्वक सर्वनाश की उद्घोषणा की गई है।²⁰ चूंकि भोग से मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता (न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति)। अतः उस पर विवेक एवं नैतिक मूल्यों का बंधन अत्यावश्यक है। इसलिए एकनिष्ठ वैवाहिक जीवन पवित्र संस्कार से अनुप्राणित होता है। प्रजोत्पादन के द्वारा पितृऋण से उच्छ्रान्त होने के लिए विवाह आवश्यक है। कामसूत्र के प्रणेता आचार्य वात्स्यायन के अनुसार कामशास्त्र का तत्त्वज्ञ जितेन्द्रिय होता है।²¹ सतही तौर पर यह वक्तव्य विरोधपूर्ण प्रतीत हो सकता है किन्तु कामवेत्ता के जितेन्द्रिय होने का यही सूत्र भारतीय काम चिन्तन का उच्चतम आदर्श है और असीम एवं अनन्त कामनाओं के नीतिगत नियमन का श्रेष्ठ प्रयास भी।

मोक्ष : मनुष्य के पुरुषार्थ की अन्तिम एवं चरम परिणति मोक्ष है। जन्म-चक्र से विमुक्त हो जाना तथा दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। मोक्षमार्ग छुरे की धार की तरह अत्यधिक कठिन है।²² इसके लिए अहंकार का पूर्ण विसर्जन करना पड़ता है, विषयोन्मुखता से पराङ्मुख होना पड़ता है। प्रवृत्तियों के संघर्ष में उलझे मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व धर्मपूर्वक सदाचरण से विवेकशक्ति सम्पन्न होता है। संयम एवं नियमपूर्वक विवेक से परिपूर्ण मनुष्य निवृत्ति की ओर अग्रसर होने लगता है। आध्यात्मिकता और सात्त्विकता का मार्ग उसे मोक्षोन्मुख बना देता है। देहबुद्धि से पृथक् होकर जब मनुष्य आत्मतत्त्व को पहचान लेता है तभी वह विनिर्मुक्त हो जाता है। इस स्थिति में सांसारिक अज्ञान का नाश हो जाता है तथा व्यक्ति 'स्व' भाव में स्थित हो जाता है।

भारतीय दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के तीन आधार स्वीकार किये गये हैं – कर्म, ज्ञान और भक्ति। गीता में इन तीनों को योग कहते हुए इनका पृथक् अध्यायों में विवेचन हुआ है। जब मनुष्य अनासक्त भाव से (फलाकांक्षारहित होकर) अपने दायित्वों एवं कर्तव्यों का निर्वहण करता हुआ मुक्ति की ओर प्रवृत्त होता है तो उसका मार्ग 'कर्म मार्ग' कहलाता है। मनु ने तो स्पष्ट आज्ञा दी है कि तीनों ऋणों (देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण) को पूरा कर के ही मन को मोक्ष में लगाना चाहिए वरना पाप का भागी होना पड़ेगा।²³ ज्ञानी मनुष्य श्रवण-मनन एवं निदिध्यासन पूर्वक

ब्रह्मभाव को प्राप्त करने की दिशा में गतिशील होता है। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म हो जाता है। यही ज्ञान मार्ग है। भक्तिमार्ग के अन्तर्गत मनुष्य ब्रह्म के सगुण रूप की उपासना करते हुए स्वयं को पूर्णतः उसके प्रति समर्पित कर देता है। मोक्षार्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह इन्द्रियनिग्रह करते हुए राग-द्वेष पर नियंत्रण प्राप्त करे तथा अहिसक जीवन व्यतीत करे। सम-भाव में स्थित स्पृहाहीन व्यक्ति आत्मज्ञान की प्राप्ति कर लेता है।

हिन्दू जीवन-दृष्टि में जीवन के प्रति मोह है तो वैराग्य भी है – बंधन है तो मुक्ति भी है। पुरुषार्थी में काम और अर्थ साधन स्वरूप हैं तथा अन्य दो साध्य स्वरूप। पुरुषार्थी में धर्म सर्वोपरि है, क्योंकि इसके बिना किसी भी कृत्य का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। अर्थ और काम के प्रति मनुष्य में जो स्वाभाविक उत्कण्ठा है, उसी पर अंकुश लगाने के लिए धर्म की परिकल्पना की गई है।

मनुष्य की जीवन दृष्टि की यह परम्परा आधुनिक युग में भी प्रासंगिक है। पुरुषार्थ मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण का प्रधान आधार ही नहीं वरन् मुख्य प्रेरक तत्त्व भी है।

वृहदारण्यकोपरिषद् के एक मंत्र में तीन शब्दों का निर्देश है – दयध्वम्, दत्त, दमयत।²⁴ इन तीनों को हम क्रमशः धर्म, अर्थ और काम के साथ जोड़ सकते हैं। 'दयध्वम्' अर्थात् सभी प्राणियों पर दया करो। उनके योग-क्षेम की चिन्ता करो। यह धर्म का आदर्श है। 'दत्त' अर्थात् दो, दान करो। केवल अपने लिए पूंजी का संग्रह न करो वरन् लोक कल्याणार्थ उसका वितरण करो। यह अर्थ का आदर्श है। 'दमयत' अर्थात् इन्द्रियों का दमन करो क्योंकि निर्बाध भोग विनाश का कारण है। यह काम का आदर्श है।

आधुनिक सभ्यता स्वार्थान्ध, द्वेष-ग्रस्त और भोगलीन है जिसके अनिवार्य फल हैं – विध्वंस, दुःख और नैराश्य। अर्थ और काम के बढ़ते प्रभाव ने धर्म को हाशिए पर ढकेल दिया है। फलतः मानवीय और नैतिक मूल्यों का निरन्तर क्षरण होता जा रहा है। अनैतिक साधनों से असीमित धन संग्रह की लिप्सा तथा कामपूर्ति के अमर्यादित प्रयोगों ने समूची समाज व्यवस्था, मूल्यों एवं मानवीय सम्बन्धों की गरिमा पर प्रश्नचिह्न लगाने शुरू कर दिए हैं। इस दुःस्थिति से निकलने के लिए स्वार्थ के बदले त्याग, द्वेष के बदले प्रेम और भोग के बदले संयम को छोड़कर कोई अन्य उपाय नहीं। दान, दया और दमन ही शान्ति का आधार है और इसलिए सुख का मूल भी। यहीं आकर पुरुषार्थ अपने सम्पूर्ण अर्थ में प्रासंगिक हो उठता है।

संदर्भ

1. धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः। यत्स्यात्धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चयः।। महाभारत, उद्योगपर्व 89/67
2. धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। तै0 आरण्यक 10/62
3. धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्। मनु0 8/15
4. वैशेषिक सूत्र 2/2/2
5. एषां समवाये पूर्वः पूर्वं गरीयान्। कामसूत्र 1/2/14
6. परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ। मनु 4/176
7. भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मावुभावपि। कारणादेशकालस्य देशकालः सतां दृशः।। शान्ति पर्व 7/32
8. प्राणयात्रापि लोकस्य विना ह्यर्थं न सिध्यति। शान्ति पर्व 8/17
9. अर्थेन हि विहीनश्च पुरुषस्याल्पमेधसः। विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा। वहीं 8/18
10. वृहस्पति सूत्र 6.7.12
11. अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः। अर्थमूलो हि धर्मार्थकामाविति। अर्थशास्त्र 1/17
12. अनुशासन पर्व 3/18-19

13. मनुस्मृति 4/3, 15
14. ईशोपनिषद् ।
15. श्रीमद्भगवद्गीता 3/13
16. श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वाघ्राणानामात्संयोगेन मनसा अधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः । कामसूत्र 1/2/11
17. धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ । श्रीमद्भगवद्गीता
18. शतायुर्वै पुरुषो विभज्य कालमन्योन्यानुबद्धं परस्परस्यानुपघातकं त्रिवर्गं सेवेत । कामसूत्र 1/2/1
19. धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत । अर्थशास्त्र, 17
20. ध्यायतो विषयान्मुसः संगस्तेषूपजायते । संग्तात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते । क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति । श्रीमद्भगवद्गीता 2/62, 63
21. अस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञः भवत्येव जितेन्द्रियः । कामसूत्र 7/2/58
22. क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गपथस्तत्कवयो वदन्ति । कठोपनिषद् 3/14
23. ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो ब्रजत्यधः ॥ मनु 6/35
24. वृहदारण्यकोपनिषद् 5/2/3